International Journal of Engineering, Management, Humanities and Social Sciences Paradigms (IJEMHS)
Volume 34, Issue 01 and Publication Date: 28th June, 2022
An Indexed, Referred and Peer Reviewed Journal
ISSN (Online): 2347-601X
www.ijemhs.com

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श की अवधारणा एवं इसका स्वरूप

अंजली कुमारी
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, बी0 एन0 मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार

सार

उत्पीड़ित और वंचित होने का अनुभव पहचान के विषय के लिए प्रारंभिक बिंदु के रूप में कार्य करता है। जो लोग गरीबी या आर्थिक पीड़ा का सामना कर रहे हैं उन्हें समाज में 'दलित' कहा जाता है। ये वे लोग हैं जिन्होंने पीढ़ियों से जाति, आस्था, धर्म और संप्रदाय के नाम पर सामाजिक अन्याय को सहा है। दलित पहचान के संदर्भ में, यह दावा किया जा सकता है कि समय के साथ सामाजिक ठहराव, अलगाव, और विलासिता के प्रति एक सामंती प्रवृत्ति के कारण उन्हें उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। प्रस्तुत आलेख में हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श की अवधारणा एवं इसका स्वरूप क्या है और इसमें परिवर्तन के तत्व क्या रहे इसकी चर्चा की गई है।

मुख्य शब्द—दलित, विमर्श, सवर्ण, सांस्कृतिक

विस्तार

सबसे पहले, 'दलित' शब्द का पहली बार प्रयोग 1933 में किया गया था, जब ब्रिटिश सरकार ने 'अनुसूचित जनजाति' की शुरुआत की थी। इस सूची में 'अनुसूचित जनजाति' अछूत समाज, आर्थिक रूप से पिछड़े लोग और निराश्रित लोग हैं। इस प्रकार, दलित वर्ग को उत्पीड़ित, निराश्रित, पद दलित और सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषित के रूप में वर्णित किया गया। दलित पहचान की शुरुआत भारतीय समाज में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े तबकों के परिणाम स्वरूप हुई जिन्होंने सदियों से उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ अपने अधिकारों पर सवाल उठाना और मांग करना शुरू कर दिया। यह वंचित वर्ग एक बार अपनी पीड़ा को मृत्यु तक ले गया था। वह चुप रहता था क्योंकि वह खुद को यति समझता था। इसके बाद, इन समूहों ने एक दूसरे की पीड़ा के बारे में बात करना और सुनना शुरू किया, लेकिन अब वे इसके बारे में लि ने लगे हैं। इस उत्पीड़ित वर्ग के लेखकों ने अपने विचारों से एक आन्दोलन डॉ0 किया, जिसने इस वर्ग को शोषण की शक्तियों के प्रति शत्रुतापूर्ण बना दिया। उन्हें अपने अस्तित्व और मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। दलितों ने खुद को साहित्य से लैस कर लिया। दलित साहित्य दलितों के

अधिकारों की लड़ाई की उपज है। मोहन दास नैमिशराय ने दलित साहित्य पर एक लेख में कहा है, दलित साहित्य केवल दुख, पीड़ा और दुख का साहित्य नहीं है, बल्कि अपने अधिकारों, अस्मिता और अस्मिता के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों का भी साहित्य है।'1

इस प्रकार मोहन दास नैमिशराय दलित अस्मिता का वर्णन करने के लिए दलित साहित्य का प्रयोग करते हैं। उनका दावा है कि आत्म–सम्मान प्राप्त करने के लिए, दलित पहचान को अपने उचित अधिकारों के लिए संघर्ष करना होगा, जिसके लिए यह शोषित और उत्पीड़ित वर्ग अधिक अनुनय–विनय करने के बजाय कलम और कागज को माध्यम के रूप में उपयोग करता है। वरिष्ठ दलित लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि ने कहा है कि दलित साहित्य लोकप्रिय साहित्य है, अर्थात जन साहित्य है, जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के खिलाफ संघर्ष है। इसे मानवीय चिंताओं और संवेदनाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व के रूप में वर्णित किया है। इस संघर्ष और विद्रोह ने दलित साहित्य को जन्म दिया। इसी तरह, ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित लेखन को सदियों की दासता और उत्पीड़न के प्रतिरोध के उत्पाद के रूप में देखते हैं। इस वर्ग ने लंबे समय से ईश्वर की झूठी धारणाओं, पूर्वाग्रहों, अन्यायों और अंध विश्वासों को छोड़ने के लिए संघर्ष किया है। दलित साहित्य में, मुक्ति की चिंता शत्रुता, घृणा और हमले के रूप में प्रकट होती है। दलित लेखक अपने जीवन के अनुभवों से दलित पहचान का एक नया सौन्दर्य रच रहे हैं। वर्षो से अपने अधिकारों से वंचित दलित समाज अब बोलने लगा है। एससी दुबे ने प्राचीन भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति के बारे में लिखा, यह दावा करते हुए कि उन्हें लगातार अपमानित किया जाता था। अगर उन्हें छुआ जाता तो उन्हें कपड़े पहनकर ही नहाना पड़ता था। यहां तक कि अछूत जाति के लोगों को भी निर्देश दिया गया था कि वे अपने घरों को ऊंची जातियों और मंदिरों के घरों से दूर बनाएं और उन्हें गांव की निश्चित सीमा के भीतर प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं था।

पुनर्जागरण के दौरान सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों और ब्रिटिश काल के दौरान आर्थिक और राजनीतिक सुधारों से दलितों की स्थिति में सुधार हुआ। उन्होंने पहली बार यह महसूस करने के बाद ऊंची जातियों के अधिकारों को चुनौती देना शुरू किया कि वे कौन थे और उनके पास क्या अधिकार थे। अपने क्रोध और अवज्ञा को व्यक्त करने के लिए साहित्य के प्रकाशित कार्य। साम्राज्य वादी भारत में, दलितों की सामाजिक स्थिति में वृद्धि हुई। राजेंद्र यादव ने कहा है कि यह सही है कि अंग्रेजों ने मूल रूप से व्यापार के जरिए दलितों और सिखों के

लिए मुत्ति का रास्ता खोला था. उन्होंने उपनिवेश पर अपने नियंत्रण को सुदृढ़ करने के लिए भौगोलिक सर्वेक्षण किए, और दूसरी ओर, उन्होंने पूरे राष्ट्र की जातियों, धर्मों, बोलियों और अन्य विशिष्टताओं को निर्धारित करने के लिए एक जनगणना की। इस जनगणना के माध्यम से हर वर्ग और स्थान के लोगों ने अपनी स्थिति और संख्या के बारे में सच्चाई जान ली। इसके क्षेत्र और जनसंख्या की विशेषताओं का देश के विचार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। लोकतांत्रिक प्रणाली पहले दूसरे के दौरान अस्तित्व में आई। यह सच है कि उपनिवेशों में वास्तव में इंग्लैंड जैसा लोकतंत्र नहीं था। हालाँकि, प्रशासन और कानून के मामले में ब्राह्मण और शूद्र समान स्तर पर थे। ईसाई धर्म भी समानता को बढ़ावा देता है, यह मानते हुए कि सभी को समान आधर पर जीवन, रोजगार और शिक्षा तक पहुंच होनी चाहिए। दर्शन अपने आप में पूरी तरह से हिंदू और क्रांतिकारी है। इसकी भयानक प्रकृति ने समाज को हिला कर रख दिया। भले ही दलितों को 20वीं शताब्दी में स्वतंत्र भारतीय संविधान द्वारा अधिकार प्रदान किए गए थे, फिर भी वे महानगरों और ग्रामीण इलाकों में दयनीय जीवन जी रहे हैं। क्या यह गिरता है? अब भी, यह वर्ग प्रतिबंधित है, जानवरों से हीन जीवन जी रहा है, और यह अपने अस्तित्व और स्वयं की भावना के लिए लड़ रहा है। भारत के संवैधानिक नियम के बावजूद, इस वर्ग के लिए पूजा स्थलों में प्रवेश करना या सार्वजनिक रूप से पानी भरना अभी भी अवैध है। दलित वर्ग आज भी स्वाभिमान और पहचान के लिए संघर्ष कर रहा है।

भारतीय समाज में जाति और श्रम के आधार पर भेदभाव और विरोध का इतिहास फराना है। सामाजिक भेदभाव के खिलाफ संघर्ष का ही परिणाम है कि आज दलितों की सामाजिक स्थिति बदलने लगी है। उन्हें सम्मान और स्वाभिमान के साथ जीने का अधिकार है। उनके जीवन में भी परिवर्तन हो सकता है और वे भी अपनी मुत्ति का मार्ग खोज सकते हैं, उन्हें अब इसका एहसास हो रहा है। लेकिन राजनीतिक रूप से उनके उत्थान के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह व्यत्तिफ पूजा के कारण निराशा जनक है। वैश्वीकरण की राजनीति और सामाजिक अलगाव के बीच दलित सैंडविच बन गए हैं। धर्म और धर्मांतरण की तरह वैश्वीकरण भी एक झूठी आशा है, इसकी दुनिया में दलितों की आवाज गूंज रही है और गुम भी हो रही है। वे सिर्फ अपनी मूर्तियां नहीं लगा सकते थे और पार्कों पर अपना नाम खुदवा नहीं सकते थे, क्या वे ऐसा कर सकते थे? वे मात्र प्रतीकों के

रूप में चिल नहीं कर रहे होते। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनके समय का महान आंदोलन आज सही दिशा में आगे बढ़ रहा है।''[1]

आज हमारे देश में प्रतिनिधि लोकतंत्र के स्थान पर सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व की मांग बढ़ती जा रही है। हर स्तर पर सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व की राजनीति है। दलितों को पीछे धकेलने की सियासी जंग चरम पर है, हिन्दी समाज भी भेदभाव, अलगाव और घृणा का केन्द्र बन गया है, हर जगह लोग बटेरों की तरह लड़ रहे हैं, यह सब वैश्वीकरण के जरिए साम्राज्य वाद को वापस नियंत्रण देने जैसा है, वर्तमान समय में दलित विखंडन के उग्रवाद ने पहचान के प्रश्न को प्रायोजित मामला बना दिया है, दलित विमर्श में परंपराओं और रूढ़ियों के विखंडन की उत्सुकता उतनी फरानी नहीं है, जितनी साम्राज्य वाद से मुठभेड़ साम्राज्य वाद जब आता है तो अतीत का चिढ़ाते हुए लोगों को अपने अतीत के अच्छे–अच्छे को भूल जाने और बुरे से बुरे को याद करने के लिए उकसाता है। दलित या तो अतीत को पूरी तरह छोड़कर आगे बढ़ना चाहते हैं या फिर उन्हें कड़वी घटनाएं याद आती हैं।

हिंदी भाषा क्षेत्रों में कोई दलित अस्मिता आंदोलन नहीं है। यह फुले, अंबेडकर, या दलित पैंथर्स के समान ऊंचाइयों तक नहीं पहुंचा है। इस आंदोलन में वास्तविक दर्द के बावजूद बहुत भड़काऊ भाषा है। दलित राजनीति और दलित पहचान अब एक दूसरे के विरोधी हैं। समाज में अंध विश्वासों और ना समझ कर्मकांडों के उन्मूलन पर आज दलित राजनीति में जोर नहीं है और न ही दलित महिला मुत्ति का मुद्दा महत्वपूर्ण है। प्रो0 शंभूनाथ के एक अध्ययन के अनुसार, दलित राजनीति में दलित चिल्लाहट अधिक प्रचलित है। दलितों को दमन कारी परिस्थितियों से मुत्त करने के लिए इस स्थिति को मौलिक रूप से बदलने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। दलित राजनीति, जिसने पहले लोकतांत्रिक कहे जाने वाले राष्ट्रीय दलों को निगल लिया था, वहीं वे सभी राजनीतिक विकृतियाँ उभर कर सामने आई हैं।''[2] इस प्रकार प्रो0 शंभुनाथ का मानना है कि दलित इस अवमानना की आग में हजारों सालों से जलते आ रहे हैं लेकिन वे आज भी सामाजिक अत्याचारों की दुनिया से बाहर नहीं आ पाये हैं।

युगों–युगों से पराधीन, पीड़ित और अपनी पहचान से अनभिज्ञ इस समाज को अपने अधिकारों का सामना करने के लिए सबसे पहले महात्मा गांधी ने बाध्य किया था। जाति व्यवस्था महात्मा गांधी के समय तक अपनी सबसे जघन्य स्थिति

में पहुंच चुकी थी। शुरू में जाति व्यवस्था का विरोध करने के बाद, महात्मा गांधी (एम.बी.) ने अपनी विचार धारा में व्यत्ति पर जोर दिया। उन्होंने एक समता मूलक समाज बनाने के प्रयास में जाति व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ी। जाति व्यवस्था को खारिज करते हुए, दलित पहचान के समतावादी दृष्टिकोण, करुणा और विनय की भावना को भी गले लगाती है। निर्गुणवादी संतों ने महात्मा गांधी के बाद मध्य युग में जाति व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाई। मध्य कालीन युग के संतों ने मनुष्य को संपूर्ण राष्ट्र के हृदय में रखते हुए अपने विचारों को सीधी और सशत्त भाषा में व्यक्त किया। कबीर दास और नामदेव के प्रवचन ने व्यापक रूप से समतावादी विचारों को विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में प्रसारित किया। 'दादूपंथ' की स्थापना पंजाब के गुरु नानक ने वर्ण और जाति व्यवस्था को खारिज करके की थी। वर्ण व्यवस्था के विरोध में तमिलनाडु के अलवर संत भी बोले। वर्ण व्यवस्था के खिलाफ संतों के जोरदार प्रवचन के बावजूद दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके बजाय, जीवन के सभी क्षेत्रों में भेदभाव और अछूत होने की भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है। हालाँकि, दलित साहित्य संतों के इस ऐतिहासिक कार्य का पूरा सम्मान करता है। संतों को छोड़कर शेष समाज की दलितों के प्रति धरणा में थोड़ा सुधार हुआ। हालाँकि, दलित समुदाय संतों के विद्रोही व्यवहार को प्रस्तुत करना जारी रखता है।

भारतीय हिन्दू समाज सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों के माध्यम से आत्मनिरीक्षण के लिए तैयार हुआ। ब्रह्म समाज (1828 ई0) और आर्य समाज (1875 ई0) दोनों ने दलित नफरत को मिटाने का काम किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने पहली बार जाति व्यवस्था पर सीध प्रहार किया। हालाँकि, उन्होंने एक नए सामाजिक व्यवस्था मॉडल का प्रस्ताव नहीं दिया। जाति व्यवस्था की पुनर्व्याख्या दयानंद सरस्वती ने की थी। उन्होंने जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था को नकार कर कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था का निर्माण किया। आर्य समाज द्वारा दलितों के बीच सम्मान की भावना पैदा करने के लिए वेदों को सबूत के रूप में इस्तेमाल किया गया था। आर्य समाज ने अंतर्जातीय संघों को प्रोत्साहित करके एक महत्वपूर्ण योगदान दिया, जिसे भीमराव अम्बेडकर ने अंततः मान्यता दी और उस पर जोर दिया। दयानंद सरस्वती (1827–1890) के समकालीन ज्योतिबा फुले ने संपूर्ण की एक नई व्याख्या पेश करके पौराणिक और वैदिक प्रणालियों को चुनौती दी। फुले विद्युत कानून के शासन के हिमायती थे। स्वामी दयानंद सरस्वती, नारायण गुरु, ज्योतिबा फुले, पेरियार, अच्युतानंद और बाद में अम्बेडकर प्रभावशाली दलित विचारक थे जिन्होंने दलितों के कानूनी अधिकारों के बारे में

जागरूकता को बढ़ावा देने के लिए लड़ाई लड़ी। दलितों को सामाजिक असमानता का सामना करने का आत्म विश्वास दिया। सामाजिक परिवेश में शिक्षा के महत्व के बारे में बताया। उनके सम्मान और स्वाभिमान का बीज भी बोया। इसी दलित पहचान के कारण सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर इसकी उपस्थिति दर्ज है। अपने हक के लिए वह लड़ रहा है।

ज्योतिबा फुले न केवल महाराष्ट्र बल्कि पूरे देश के समाज सुधारकों में सबसे आक्रामक, मेधवी और विद्रोही व्यत्तित्वों में से एक थे। ज्योतिबा फुले ने जाति व्यवस्था की नई व्याख्या देकर पौराणिक और वैदिक व्यवस्थाओं का विरोध किया। फुले शूद्ध सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे। फुले ने बौद्धिक रूप से असमान सामाजिक संरचना का विरोध किया, पिछड़ी जातियों और दलितों को संगठित किया और दलितों, शोषितों, शोषितों और महिलाओं के लिए एक शिक्षा प्रणाली का मार्ग प्रशस्त किया। फुले के रचनात्मक तरीकों और वैचारिक लेखन से दलित आंदोलन को अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि मिली।

निष्कर्ष

उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक सुधार विचारकों दोनों का मानना था कि वर्ग, जाति और धर्म के आधर पर मानव निर्मित भेद कृत्रिम थे। इन सभी सुधारकों ने इन भेदों के खिलाफ जिहाद छेड़कर पूरे तथाकथित शासन को चुनौती दी। महात्मा फुले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' गुलामगिरी' (1873 ई0) में इसे चुनौती दी थी। महात्मा ज्योतिबा जी का आन्दोलन किसी जाति विशेषकी ओर या उसके समर्थन या संगठन के पक्ष में नहीं था। इसके बजाय, यह एक आंदोलन था जो पीड़ितों और उत्पीड़ित लोगों को आत्म–सम्मान की भावना प्रदान करने के लिए शुरू किया गया था। हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श की अवधारणा और स्वरूप में परिवर्तन के तत्व इसी पृठभूमि की परिणति है।

सन्दर्भ

1. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2005
2. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2006